जब हम खालीपन महसूस करते हैं तब उस खालीपन को, उस रिक्तता को भरना चाहते हैं, जब हम अपूर्णता महसूस करते हैं तब उस अपूर्णता से पलायन करना चाहते हैं, और यह सब दुख-तक़लीफ़ का कारण बन जाता है। इसीलिए हम किसी बौद्धिक संतुष्टि का आविष्कार कर लेते हैं और उसे ध्यान का नाम दे देते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

जून २०१०

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

वार्षिक शुल्क	: रु. १००.००
दो वर्ष	: रु. १७५.००
पांच वर्ष के लिए	: रु. ३५०.००
आजीवन	: रु. १०००.००

संपादक : विजय छाबड़ा

इस अंक में :

	पृष्ठ संख्या
मैं क्या कर सकता हूं?	४
द्विभाषी उद्धरण	बीच के पन्ने
प्रश्नोत्तरी	१६
खंड दो	२६

अनुवाद : अचलेश चंद्र शर्मा
निर्मला रमोला
भूमिका चावला

संपादकीय

क्या हमारा मन अपने व्यवहार में पसंद-नापसंद का, चयन का, अर्जन का खेल खेल रहा है, किसी तरह का विभाजन और अलगाव खड़ा कर रहा है? व्यवहार में पूर्णता लाने के लिए हम क्या जाने-अनजाने अपने साथ कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती करते हैं? कहीं ध्यान लगाने के नाम पर भी हम कुछ ऐसा ही तो नहीं कर रहे?

हम अपने भीतरी खालीपन से पलायन कर एक तरह की संतुष्टि का आविष्कार कर लेते हैं, फिर इसे ध्यान की संज्ञा दे देते हैं और मान बैठते हैं कि यही उत्तम कर्म है। ध्यान केंद्रित करने में तो उपलब्धि का संस्कार आ ही धमकता है। ध्यान केंद्रित करना, ध्यान लगाना तो ध्यान नहीं है। तो क्या पल-दर-पल की सजगता ही ध्यान का आह्लाद है? पर किसी भी स्तर पर परिणाम-ईनाम पाने की खोज में लगा मन क्या एक सजग मन है?

जीवन को हम संघर्ष के कुरुक्षेत्र में क्यों बदल देते हैं? सजगता की लौ में परीक्षण-प्रयोग कर देखें तो शायद पाएं कि न तो अपनी इच्छा का ही दबदबा रहता है, न ही किसी मानदंड का अनुसरण, रह जाता है बस सहज कर्म—बिना किसी लगाव-जुड़ाव के।

कृष्णजी की बातचीत में मुझे तो कुछ ऐसी ही धुन सुनाई दे रही है। आपको क्या लगता है?

मैं क्या कर सकता हूं?

मेरे विचार से हमें स्वयं से कुछ बुनियादी सवाल पूछने चाहिए मगर उनके जवाबों के लिए किसी और का मुंह नहीं ताकना चाहिए। इन बुनियादी सवालों के जवाब हम में से हर एक को स्वयं देने होंगे, इसके लिए हम किसी सिद्धांतकार पर निर्भर नहीं हो सकते, भले ही वह कितना ही चतुर, विद्वान, शिक्षित या अनुभवी क्यों न हो। यह दुनिया भयंकर विभ्रम और दुख की बाढ़ में डूब रही है और इसके लिए ज़िम्मेदार हम ही हैं, इस पूरी दुनिया का हर एक व्यक्ति इस भयानक अस्तव्यस्तता और परेशानी के लिए ज़िम्मेदार है। नज़र यही आता है कि किसी बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम दूसरों पर निर्भर रहते हैं और उनकी व्याख्या तथा उनके स्पष्टीकरण से हम संतुष्ट भी हो जाते हैं परंतु चूंकि ये तमाम व्याख्याएं और स्पष्टीकरण शाब्दिक होते हैं इसलिए ये बहुत अधिक सार्थक नहीं होते। विश्व की किसी भी वास्तविक अवस्था का कोई भी वर्णन, कोई भी स्पष्टीकरण निरर्थक होता है, उसके कोई मायने नहीं होते लेकिन अधिकतर हम लोग इन शब्दों से, इन बौद्धिक व्याख्याओं से संतुष्ट हो जाते हैं जिनका ताना-बाना बड़ी खूबसूरती और चतुराई से बुना होता है। मुझे लगता है कि हमें इन तमाम व्याख्याओं और स्पष्टीकरणों से परे व पार जाना होगा—भले ही वे चर्च द्वारा दिये गये हों या कम्युनिस्टों द्वारा या लोगों के किसी ऐसे वर्ग द्वारा जो अपनी बात के सही होने का प्रबल दावा करते हों।

जो बात बहुत महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि हम ये बुनियादी सवाल स्वयं से करें और न केवल इनके जवाब ढूंढ निकालने में बल्कि इन सवालों के जवाब में कर्म के जज़्बे को शामिल *करने* में भरपूर ज़िम्मेदारी बरतें। क्योंकि 'कर्म' हमारे लिए सवाल और उसके जवाब का हिस्सा नहीं होता। दरअसल, स्वयं से इन बुनियादी सवालों के पूछे जाने की और जवाबों के खोज लेने की

प्रक्रिया में उभर कर आ रही सच्चाई का हमारे कर्म में, हमारे जीने में व्यक्त होना एकदम ज़रूरी है। सवाल उठाना, जवाब खोज लेना और अमल करना एक साथ गुंथे हुए हैं। क्योंकि जब ये अलग-अलग हो जाते हैं तब सब कुछ भागों-विभागों में, वर्गों-संवर्गों में बंट जाता है और इसी बंटवारे से पूर्वाग्रह, द्वंद्व, मत-अभिमत आदि निकलने लगते हैं। जबकि मुझे लगता है कि यदि हम सचमुच सवाल कर सकें तो उस सवाल करने में ही सवाल की और कर्म की समझ खुलकर हमारे सामने प्रकट हो जाती है—ये दोनों पहलू अलग-अलग नहीं हैं। और, इन वार्ताओं के दौरान, मुझे उम्मीद है कि हम न केवल इन सवालों को पूछ सकेंगे बल्कि उन्हें समझ भी सकेंगे—केवल बौद्धिक या शाब्दिक रूप से ही नहीं बल्कि अपने मन और हृदय से भी। समझने की इस प्रक्रिया में, अमल सहज ही हो जाता है।

वास्तविकता के साथ व्यक्ति का संबंध ऐसा ही एक बुनियादी सवाल है। इस वास्तविकता को भिन्न-भिन्न तरीकों से व्यक्त किया गया है—पूर्व में एक तरीके से और पश्चिम में दूसरे तरीके से। अगर हम सिद्धांतकारों, धर्मशास्त्रियों और पादरियों-पुजारियों पर निर्भर न रहकर स्वयं यह नहीं खोज लेते कि वह संबंध क्या है तो हम वास्तविकता के साथ अपने संबंध को प्रत्यक्ष देखने-समझने में असमर्थ रहेंगे। उस वास्तविकता का नाम भले ही ईश्वर रख दिया गया हो—नाम का कोई ख़ास महत्त्व नहीं होता क्योंकि वह नाम, वह शब्द, वह प्रतीक कभी भी वास्तविक नहीं होता, इसीलिए प्रतीकों और शब्दों में ही अटके रह जाना नितांत मूर्खता होगी—मगर हम हैं इसी तरह अटके-उलझे हुए ही, इसाई एक तरीके से, हिंदू, मुसलमान व अन्य लोग अन्य तरीकों से, इसीलिए तो शब्द और प्रतीक कुछ ज्यादा ही महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। परंतु कोई भी प्रतीक, कोई भी शब्द कभी वास्तविकता नहीं हो सकता, स्वयं वह चीज़ नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रश्न पूछते हुए कि वास्तविकता के साथ मानव का दरअसल संबंध क्या है, हमें शब्दों और शब्दों के साथ जुड़ी तमाम बातों, उनके तमाम

पूर्वाग्रहों और संदर्भों से अलग व अछूता रहना होगा। यदि हम उस संबंध को स्थापित नहीं कर पाते हैं तो जीवन का अर्थ सचमुच बड़ा सीमित और संकुचित रह जाता है, और फिर हमारी ग़लतफ़हमियां, हमारे दुख निश्चित रूप से बढ़ने लगते हैं और हमारा जीवन अधिकाधिक असहनीय, असहिष्णु, अनुदार, ओछा और अर्थहीन होता चला जाता है। यह जानने के लिए कि क्या कोई ऐसी वास्तविकता है, या नहीं है, और उसका मानव के साथ क्या संबंध है, हमें अत्यंत गंभीर होना होगा।

तो हम पहले यह जानना चाहते हैं कि क्या अज्ञेय-अपरिमेय (तमाम विचारों से परे, किसी भी मापदंड से बाहर) जैसी कोई चीज़ होती है, एक ऐसी चीज़ जो शब्दातीत हो, प्रतीक से परे। सबसे पहले हम यह देखें कि क्या यह संभव है—किसी रहस्यमय रूप में, काल्पनिक रूप में या भावनात्मक रूप में नहीं बल्कि वास्तव में इस अवस्था को ढूंढ निकालना, इस तक पहुंचना, इसका साक्षात कर पाना क्या संभव है? प्राचीनकालीन लोगों ने और दुनियाभर के उन लोगों ने जो कि इसे अकस्मात पा गये, बताया है कि 'वहां कुछ है'। गंभीर सोच के लोग लाखों वर्षों से इसकी तलाश में जुटे रहे हैं। यदा-कदा और अस्थायी तौर पर प्रयास करने वालों को भी अपनी मतलब की चीज़ें, जीने के उनके अपने तौर-तरीके हाथ लगते रहे हैं, लेकिन थोड़े ही सही पर हमेशा कुछ लोग ऐसे रहे हैं जो सचमुच गंभीर रहे हैं और जिनका इस अछोर और अपरिमेय से यकायक साक्षात्कार हो पाया है। यह बात समझने के लिए हमें हमारे मन को अपने ही रंग में रंग देने वाले उन सभी मत-सिद्धांतों, उन सारे विश्वासों और उन सारी परंपरागत बेड़ियों से पूरी तरह आज़ाद कर लेना होगा जो दरअसल विचार की ही उपज होते हैं। हम मनुष्य हैं—कष्ट झेलते हुए, अकेले, भ्रमित, बेहद दुखी—भले ही हम स्वयं को कम्युनिस्ट कह लें या समाजवादी या कुछ और, मगर हम हैं तो मनुष्य ही। परंतु हमारे लिए मायने रखने वाली बात है हमारा लेबल—फ्रांसीसी, जर्मन या कुछ और। इस सब से मुक्त होना

महत्त्वपूर्ण है—केवल शब्दिक रूप में नहीं बल्कि वास्तव में—क्योंकि आपको स्वतंत्रता की आवश्यकता है। स्वतंत्र होने पर ही आप *जो वास्तव में है*—उसे प्रत्यक्ष देख पायेंगे, उसे आप किसी विश्वास के या किसी मत-सिद्धांत के चश्मे से देख ही नहीं सकते।

अतः जो सचमुच जिज्ञासु है, गंभीर है—इस अर्थ में कि वह धुर आखिर तक पहुंचने के लिए तैयार है, तो तमाम बंधनों से मुक्ति ज़रूरी है—राष्ट्रीयता से, मत-सिद्धांतों से, रीति-रिवाज़ों और विश्वासों से। लेकिन शायद यह कठिनतम कामों में से एक है। भारत में ऐसे बहुत सारे लोग हैं जिन्होंने इस बारे में गहन चिंतन किया है मगर फिर भी वे हिंदू परंपराओं में घिरे रहते हैं, पश्चिम में ऐसे लोग कैथोलिक, प्रोटेस्टैंट या कम्युनिस्ट मत-सिद्धांतों में डूबे रहते हैं और इसलिए ये लोग इस सब से कभी बाहर नहीं निकल पाते हैं। लेकिन अगर किसी को एक भिन्न प्रकार का जीवन जीना है, अपना जीवन एक भिन्न आयाम में जीना है तो उसे इस सब से न केवल सजग रहते हुए बाहर निकल आना होगा बल्कि अपने वजूद की जड़ों को गहराई तक देखना होगा। केवल तभी वह सचमुच देख सकने की दृष्टि पा सकेगा क्योंकि वास्तविकता को पाने व देखने के लिए मन का अविक्षिप्त होना, स्वस्थ होना, अत्यंत प्रज्ञाशील होना अर्थात अत्यंत संवेदनशील होना आवश्यक है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि हमारा मन ऐसा हो जिसे कभी संतप्त न किया गया हो, कभी किसी निर्धारित ढर्रे पर चलने के लिए बाध्य न किया गया हो। यह तो जगजाहिर है कि धर्मों की यह प्रबल धारणा रही है कि वास्तविकता को, सच को जानने के लिए स्वयं को संतप्त करना चाहिए, हर एक चीज़ को नकार देना चाहिए—हर विषय-सुख को, और जब तक आपका मन किसी स्थापित व निर्धारित ढर्रे में सही-सही बैठ जाने के लिए अनुकूल आकार-प्रकार का न हो जाए तब तक आपको स्वयं को अनुशासनबद्ध रखना चाहिए ताकि मन अंततः अपना लचीलापन,

अपनी स्फूर्ति, संवेदनशीलता और गतिशीलता का गुण खो बैठे। जबकि आवश्यकता इस बात की है कि हमारा मन अप्रताड़ित हो, वह एक ऐसा मन हो जो बिलकुल निर्मल हो। परंतु, ऐसे मन का होना तब तक संभव नहीं होगा जब तक उसमें किसी भी तरह का कोई पूर्वाग्रह विद्यमान रहेगा। देखिए, सबसे कठिन कामों में एक है अवलोकन करना—किसी भी चीज़ को उसके बारे में कोई भी छवि बनाए बिना देखना, किसी बादल को उससे जुड़ी किसी पूर्व स्मृति से मुक्त होकर ध्यानपूर्वक देखना, किसी फूल को उससे जुड़ी किसी पुरानी छवि या स्मृति के बिना देखना, क्योंकि ये छवियां, ये स्मृतियां ही अवलोकनकर्ता और अवलोकित के बीच दूरी बना देती हैं। और इस दूरी में ही, द्रष्टा और दृश्य के अलगाव में ही मानव के सारे कलह-क्लेश अपना अड्डा जमाये हुए हैं। यह आवश्यक है कि देखना बिना किसी छवि के हो ताकि अवलोकनकर्ता और अवलोकित के बीच किसी फ़ासले की कोई गुंजाइश ही न रहे। जहां भी कोई फ़ासला होगा वहां कलह-क्लेश भी होगा। तो देखने की कला बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि मैंने कहा, हम अपने आप को यदि उस छवि के चश्मे से देखते हैं जो अपने बारे में स्वयं हमने ही बना ली है तो उस छवि और वास्तविकता में द्वंद्व हो जाता है और हमारा सारा जीवन *जो है* और *जो होना चाहिए* के बीच घमासान बन कर रह जाता है।

देखिए, इन शब्दों को, वाक्यांशों को और भावाभिव्यक्तियों को केवल सुनते ही मत रहिए बल्कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते चलें वैसे-वैसे अवलोकन भी करते चलिए—विश्लेषण करते हुए नहीं बल्कि अपने ही मन की प्रक्रिया का अवलोकन करते हुए देखें कि यह किस तरह काम कर रहा है, यह खुद को किस तरह देख रहा है। तभी आप सचमुच सुन रहे होंगे, तभी आप अपने पूर्वाग्रहों और पूर्व प्रभावों के अनुसार टीका-टिप्पणी में नहीं उलझेंगे। चूंकि इस दुनिया की हालत बद से बदतर होती जा रही है, इतनी व्यथा है, इतनी तबाही मची है कि हमें एक अलग तरह का जीवन अपनाना होगा, अपनी जीवन शैली में बुनियादी बदलाव

लाना होगा। अगर देखा जाए तो जीवन के तौर-तरीके के रूप में आदमी ने ही युद्ध और द्वंद्व को चुना है लेकिन अब नयी पीढ़ी में इसके प्रति विरोध और विद्रोह होने लगा है। मगर ऐसे विद्रोह का तब तक कोई अर्थ नहीं होगा जब तक हम जीवन के बुनियादी सवालों के जवाब स्वयं नहीं ढूंढ निकाल लेते।

बुनियादी सवालों में से एक है : जिसे हम वास्तविकता कहते हैं वह है क्या? क्या आप और मैं—किसी मठ में जा बैठे बिना, या किसी गुरु का चेला बने बिना, या भारत में किसी अजीबोगरीब आश्रम में रमे बिना—अपने दैनिक जीवन में उस वास्तविकता का, उस यथार्थ को महसूस कर सकते हैं? और ऐसा होना बहुत ज़रूरी है—किसी पूजा-पाठ के माध्यम से नहीं और न ही किसी का अनुकरण या अनुसरण करके बल्कि अपनी ही संस्कारग्रस्तताओं को जान लेने और उनके प्रति सजग रहने से, किसी सैद्धांतिक रूप से नहीं बल्कि उसे वास्तव में देखते हुए, ऐसे जैसे कि आप किसी फूल को या बादल को देख रहे हों—स्वयं को उससे विलग या विच्छेद किये बिना। मैं नहीं जानता कि आपने कभी किसी को—जैसे कि अपनी पत्नी को या अपने पति को—बिना किसी छवि के देखने का प्रयास किया है या नहीं जो आपने या उसने अनेक वर्षों के संबंधों के दौरान अनेक झुंझलाहटों, मौज-मस्तियों और रोष-आक्रोश के चलते बना डाली हैं—उस छवि के बिना भी क्या कभी आपने उसे देखने का प्रयास किया है? पता नहीं कि आपने कभी यह प्रयास किया है या नहीं, लेकिन यदि किया है तो आपने पाया होगा कि छवियों से मुक्त हो पाना कितना कठिन है। ये छवियां ही हैं जिनके बीच संबंध बनने की अपेक्षा की जाती है, व्यक्तियों के बीच नहीं। आपने मेरी एक छवि बना रखी है और मैंने आपकी और फिर संबंध इन्हीं दो छवियों के बीच रहता है—अपने तमाम प्रतीकों और यादों की बारात के साथ।

द्वंद्व की पूरी संरचना को पोषित करने वाली छवि जब तक मौजूद रहेगी तब तक विभाजन भी रहेगा। इसलिए हमें देखने का

कौशल सीखना होगा, न केवल बादल को, फूल को या हवा में झूमते पेड़ को बल्कि स्वयं को वास्तव में वैसा देख पाना जैसे कि हम हैं, न कि वैसा जैसा कि हमने अपने बारे में राय बना ली है और अपनी पुख़्ता राय को बोलते रहना कि 'यह भद्दा है', 'यह सुंदर है', या 'क्या बस यही है?' जब हम स्वयं को बिल्कुल स्पष्ट रूप से, बिना किसी छवि के देख पायेंगे, शायद तभी हम वह साक्षात देख पायेंगे जो हमारे लिए सच है। मगर वह सच किसी विचार की चारदीवारी में रहते हुए नहीं बल्कि प्रत्यक्ष दर्शन से मिलता है जिसमें द्रष्टा और दृश्य के बीच कोई अलगाव या अंतराल नहीं रह जाता। बुनियादी सवालों में से एक यह है कि मानव का उस परम से, उस अनाम से क्या संबंध है जो किसी भी शब्द से परे है।

इसके बाद जो बुनियादी सवाल आता है वह है मानव का मानव के साथ संबंध। यही संबंध तो समाज है, वह समाज जो हमने बज़रिए अपनी ईर्ष्या, लालच, नफ़रत, पाशविकता, स्पर्धा और हिंसा से रचा है। संघर्षों, युद्धों, द्वंद्व, हिंसा और आक्रामक व्यवहार पर आधारित हज़ारों सालों से समाज के साथ निर्मित होता आया हमारा यह संबंध हमारा दैनिक जीवन बन गया है—कार्यालय में, घर में, फैक्ट्री में, चर्च में। इसी द्वंद्व के चलते हमने एक नैतिकता गढ़ ली है, मगर यह नैतिकता है नहीं, यह तो प्रतिष्ठा का मामला है जो पूरी तरह बेमानी है। आप चर्च जाते हैं और वहां अपने पड़ोसी से प्रेम करते हैं लेकिन दफ्तर में उसकी जड़ काटने पर तुले रहते हैं। इस समाज में धारणाओं, दुराग्रहों और पूर्वाग्रहों पर टिके हुए राष्ट्रीय मतभेद विद्यमान हैं, यह एक ऐसा समाज है जिसमें अन्याय और असमानता का विकराल रूप नज़र आता है—हम सभी यह बात जानते हैं, हम इससे बख़ूबी वाक़िफ़ हैं—लगातार चलती लड़ाईयों से, अव्यवस्था में से व्यवस्था पैदा करने की कोशिश करते राजनेताओं और अर्थशास्त्रियों की चालों से—इस सब से हम भली-भांति परिचित

हैं। लेकिन हम कहते हैं, 'हम क्या कर सकते हैं?' हम जानते हैं कि हमने जीवन का जो रास्ता चुना है वह अंततोगत्वा हत्या के कुरुक्षेत्र में ले जाता है। अगर हम थोड़ा भी गंभीर होते तो हज़ार बार इस पर सवाल उठाते, मगर हम तो बस इतना भर कह देते हैं 'मैं, एक अकेला इंसान कुछ भी नहीं कर सकता। इतने विशाल तंत्र के सामने मैं क्या कर सकता हूं?'

जब कोई स्वयं से इस तरह का प्रश्न करता है कि 'मैं क्या कर सकता हूं' तो मेरे विचार से वह सवाल ही ग़लत है। इस सवाल का कोई जवाब ही नहीं है। यदि आप इसका जवाब निकाल लेते हैं तो आप कोई संगठन बना लेंगे, ऐसी ही किसी चीज़ का हिस्सा या सदस्य बन जायेंगे, किसी राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक कार्रवाई के किसी ख़ास ढर्रे के प्रति समर्पित हो जायेंगे; और फिर आप अपने उस विशिष्ट संगठन में उसी पुराने चक्रव्यूह में पुनः फंस जायेंगे जिसमें अध्यक्षों और सचिवों का सिलसिला होगा, पैसा होगा, जिसका अपना एक छोटा सा समूह होगा जो अन्य सभी समूहों के विरुद्ध खड़ा होगा। हम सब इसी में उलझे हैं। 'मैं क्या कर सकता हूं?' यह प्रश्न ही ग़लत है— जब आप प्रश्न को इस तरह रखेंगे तो आप वाक़ई कुछ नहीं कर सकते। मगर आप ज़रूर कुछ कर सकते हैं जब आप *वास्तव में देख पाते हैं* (बिल्कुल इस तरह जैसे आप इस माइक्रोफोन को और इस वक्ता को देख रहे हैं), यथार्थतः देख पाते हैं कि हम में से हर एक व्यक्ति सुदूरपूर्व में चल रहे युद्ध के लिए ज़िम्मेदार है, न तो अमरीकी, न वियतनामी और न ही कम्यूनिस्ट बल्कि आप और मैं ही उस सब के लिए सचमुच और प्रबल रूप से ज़िम्मेदार हैं जो कि न केवल वहां बल्कि हर तरफ़ हो रहा है। हम ही ज़िम्मेदार हैं उन राजनेताओं के लिए जिनको वजूद में लाने वाले हम ही हैं, हम ही ज़िम्मेदार हैं उस सेना के लिए जिसे हत्या करना बाक़ायदा सिखाया जाता है, हम ही ज़िम्मेदार हैं अपने सभी क्रियाकलापों के लिए— वे चाहे सायास किये जा रहे हों या अनायास।

मगर आप कहते हैं, 'हम ज़िम्मेदार होना ही नहीं चाहते'; हम यह कहने से घबराते और कतराते हैं कि 'इस सारी की सारी व्यापक अव्यवस्था और गड़बड़ी के लिए मैं ज़िम्मेदार हूं।' लेकिन यदि आप वास्तव में, अपने दिल से इसे महसूस करें तब ही आप कुछ कर पाएंगे, तब आप देखेंगे कि आप समाज से पूरी तरह बाहर निकल आये हैं। हो सकता है कि आप के पास थोड़े बहुत कपड़े हों, आप कार में चलते हों, वगैरह वगैरह, मगर वास्तव में नैतिक होने के लिए आपको मनोवैज्ञानिक रूप से, आंतरिक रूप से और पूर्ण रूप से समाज के ढांचे से मुक्त होना होगा यानी इसकी तमाम नैतिकताओं को नकार देना होगा। अगर आप नैतिकता की वर्तमान संरचना को स्वीकार कर रहे हैं तो आप वास्तव में अनैतिक हैं। इसमें तो भ्रष्टाचार भरा है, यह समाज तो पतन की खाई में जा रहा है। आप अमरीका के दंगों से वाकिफ़ हैं, आप वह सब भी जानते हैं जो निकट पूर्व में हो रहा है, और सुदूरपूर्व में तो उससे भी बुरा हो रहा है, और भारत में भी, जहां विकराल भुखमरी है। हर देश को लगता है कि उसे अपनी समस्याओं से खुद ही निपटना होगा, लेकिन सारी दुनिया के राजनेता भुखमरी को, हत्या को अपनी राजनैतिक गोटी की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं क्योंकि हमने इस दुनिया को देशों में, प्रभुसत्ता संपन्न सरकारों में विभाजित कर दिया है जो कि अलग-अलग तरह के झंडे लिये हुए हैं। व्यवस्था लाने के लिए ज़रूरी है कि मानव-मैत्री व मानव-एकता हरएक का सरोकार हो। इसका अर्थ है एक ऐसी सरकार जो फ्रांसीसी, जर्मन या किसी भी अन्य तरह की राष्ट्रीयताओं में बंटी न हो।

क्या कभी आपको हैरत नहीं होती कि राजनेताओं का वजूद आख़िर है ही क्यों? कोई भी सरकार कंप्यूटर द्वारा चलाई जा सकती है जो कि कोई व्यक्तिगत हित या महत्त्वाकांक्षा नहीं रखते, वे उन लोगों की तरह नहीं होते जो अपने देश के नाम पर असल में बस अपनी ही प्रतिष्ठा की जुगाड़ में लगे रहते हैं; तभी हमें एक स्वस्थ सरकार मिल पायेगी! लेकिन देखिये, दुर्भाग्य से

मानव जाति स्वस्थ नहीं है; मनुष्य इस भयानक दुर्व्यवस्था में ही रहना चाहते हैं। और इसके लिए आप और मैं ही तो ज़िम्मेदार हैं। देखिये, केवल सहमत मत हो जाइए, सहमति में अपना सिर ही मत हिलाइये; इसके लिए आपको कुछ करना होगा। देखना-सुनना *ही* करना है। जब आप कोई ख़तरा देखते हैं तो कुछ करते हैं; उस समय न कोई झिझक होती है, न कोई बहस होती है, न कोई मत-अभिमत होता है, बस एक त्वरित क्रियाशीलता होती है। लेकिन आप दुनिया में अपने चारों तरफ़ मंडराते बहुत बड़े ख़तरे को देख ही नहीं रहे हैं—शिक्षा प्रणाली में, व्यावसायिक क्षेत्र में, धार्मिक क्षेत्र में—आपको ये सारे खतरे दीख ही नहीं रहे हैं। मगर खतरे को देखना ही उसके लिए कुछ करना है। जब आप किसी भी चीज़ को वस्तुतः देख लेते हैं तब कोई द्वंद्व-दुविधा नहीं रह जाती, तब हम उससे तुरंत दूर छिटक जाते हैं—बिना प्रतिरोध के, बिना विरोध के।

उस सामाजिक अन्याय को, सामाजिक संताप को, सामाजिक नैतिकता और संस्कृति को भली-भांति देखना जिनके बीच संगठित धर्म अपनी सत्ता बनाये बैठे हैं, और मनोवैज्ञानिक तौर से उनकी वैधता को नकार देना ही असाधारण रूप से नैतिक और सदाचारी होना है। क्योंकि आख़िरकार नैतिकता सुव्यवस्था ही तो है; और सद्गुण है पूरी तरह सुव्यवस्थित होना। लेकिन यह सब तभी आ सकता है जब आप अव्यवस्था को नकार देते हैं, उस अव्यवस्था को जिसमें हम जी रहे हैं, द्वंद्व और भय की उस अव्यवस्था को जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा पाने की जुगत में लगा हुआ है। पता नहीं कि आपने कभी सुरक्षा के मुद्दे पर कभी सोच-विचार किया है या नहीं। ज़ाहिर है कि हम लोग प्रतिबद्धता में सुरक्षा तलाश लेते हैं, किसी चीज़ के प्रति प्रतिबद्ध हो जाने से सुरक्षा का एक बड़ा एहसास होता है जैसे कम्यूनिस्ट होने में, फ़्रांसीसी या ब्रिटिश या ऐसा ही कुछ होने में। यह प्रतिबद्धता हमें सुरक्षा देती है। आप यदि किसी कार्यविधि के

प्रति प्रतिबद्ध हो जाते हैं तो यह प्रतिबद्धता आपको अतीव सुरक्षा, आश्वस्तता और निश्चितता प्रदान करती है। लेकिन यह प्रतिबद्धता हमेशा दुर्व्यवस्था को ही जन्म देती है, और वास्तव में यही तो हो रहा है। मैं कम्यूनिस्ट हूं और आप नहीं हैं—कुछ और हैं। हम अवधारणाओं के प्रति, सिद्धांतों के प्रति, नारों के प्रति प्रतिबद्ध रहते हैं और इसीलिए हम बंट जाते हैं क्योंकि आप कुछ और हैं और मैं कुछ और। जबकि, यदि हम सम्मिलित रहें—प्रतिबद्ध नहीं—जीवन की संपूर्ण गतिविधि में शामिल हों तो हम में कोई विभाजन, कोई अलगाव नहीं होगा, तब दुख में हम सभी मानव होंगे न कि कोई फ़्रांसीसी जो दुख में है, या कैथोलिक जो दुख में है बल्कि मानव जो दोषी और व्यग्र है, संताप में है और अपने रोज़मर्रा के ढर्रे के चलते अकेलेपन व ऊब में है। यदि हम सब इसमें सम्मिलित हैं तो हम सब मिलकर इससे बाहर निकलने का कोई न कोई उपाय व मार्ग ढूंढ निकालेंगे। मगर हम तो प्रतिबद्ध होना पसंद करते हैं, पृथक-पृथक रूप से सुरक्षित रहना पसंद करते हैं—न केवल राष्ट्रीय व सामुदायिक रूप से बल्कि व्यक्तिगत रूप से भी। मगर इस प्रतिबद्धता में पृथक्करण का, अलगाव का वास रहता है। जब मन अलगाव में रहता है तब वह स्वस्थ नहीं रहता।

हम सभी ये बातें शाब्दिक तौर पर बख़ूबी जानते हैं क्योंकि अधिकतर लोगों ने इस सब के बारे में काफ़ी-कुछ पढ़ा है, लेकिन दुर्भाग्यवश जो कुछ उन्होंने पढ़ा है उसमें उनकी खुद की खोज नहीं होती, उनकी अपनी समझ नहीं होती। इसके लिए तो हर एक को छानबीन करनी होगी, हर नियम-सिद्धांत को एक तरफ कर अपने आप को ध्यान से देखना होगा, पसंद-नापसंद से अप्रभावित, सजगता से स्वयं को बड़े ही ध्यान से देखना होगा ताकि हम स्वयं को ठीक वैसा ही देख सकें जैसे हम हैं, न कि जैसा हमें होना चाहिए। तब आप देख पायेंगे कि आप क्या हैं, और तब कोई द्वंद्व-दुविधा शेष नहीं रह जायेगी।

बुनियादी सवालों में प्रेम और मृत्यु का सवाल भी शामिल है। फिर वही बात आती है कि जिस चीज़ को हम प्रेम कहते हैं वह तो अपना अर्थ खो चुकी है। जब कोई कहता है, 'मैं तुम्हें प्रेम करता हूं', तो उसे इसमें बड़ा ही सुख महसूस होता है। अतः हमें स्वयं यह पता लगाना होगा कि क्या प्रेम सुखभोग है; इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रेम को पाने के लिए हम सुखभोग को नकार दें। लेकिन जब प्रेम को लोभ-लालच, ईर्ष्या, डाह, नफ़रत के बाड़े में बंद कर दिया जाता है—जैसा कि अधिकतर हमारे साथ होता है—तब क्या वह प्रेम रह जाता है? जब प्रेम को अलग-अलग दरजों में बांट दिया जाता है—दिव्य, साधारण, ऐंद्रिक—तो क्या इसे प्रेम कहेंगे? या फिर प्रेम कुछ ऐसा है जिसे सुख-विलास छू भी नहीं सकता?

हमें इस प्रश्न में उतरना होगा कि सुख-विलास क्या है। क्यों हर चीज़ का आधार सुख-विलास ही रहता है? जिसे आप 'ईश्वर' कहते हैं उसकी तलाश भी एक तरह से सुख की लालसा ही है। हम स्वामित्व-भाव, पद-प्रतिष्ठा, शक्ति-अधिकार और प्रभुत्व के ज़रिए सुख-लालसा को ही तो तृप्त करते रहते हैं। परंतु प्रेम के बिना आप चाहे जो कर लें, जितना चाहें उतने चतुर-चालाक हो लें, आप कुछ भी सुलझा नहीं पायेंगे। जो कुछ भी आप करेंगे उससे आप अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी और-और संकट व झंझट खड़े करते चले जायेंगे।

अब हम इस असाधारण प्रश्न पर आते हैं—मृत्यु की प्रकृति का प्रश्न। इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए ज़रूरी है कि न भय हो, न इसके परम सत्य से पलायन और न ही कोई आस्था-विश्वास। इसका उत्तर मिलता है, बिल्कुल सही उत्तर, लेकिन सही उत्तर पाने के लिए सही प्रश्न का होना भी आवश्यक है। अगर आप इससे बचकर निकल जाने के रास्ते की तलाश में रहेंगे, अगर वह प्रश्न हताशा या अकेलेपन से उपजता है, तो आप सही प्रश्न शायद नहीं पूछ पायेंगे। लेकिन अगर आप सही

To live a natural life…

So to me, to live naturally, that demands a great deal of intelligence, not brutal, savage, unthinking life, primitive life—I do not mean that when I use the word *naturally*. To live a natural life, full, spontaneous life, creative, intelligent life, you can do that only when you understand the false standards and the true standards of society, and have broken away from them because you understand their significance; therefore, you are no longer bound by this pursuit of the opposite which we call virtue.

To put it very briefly, when you are afraid, you are seeking courage, and we call that courage a virtue; whereas, really, what are you doing? You are running away from fear. You are trying to cover up fear by an idea, what you call courage. So momentarily you may cover up fear by an idea of what you call courage, but fear will continue to exist and show itself in different forms; whereas, if you try to find out what is the fundamental cause of fear, then mind is not caught up in the conflict of opposites.

सहजता से जीने की कला

मैं समझता हूं कि सहज-स्वाभाविक जीवन जीने के लिए अपार सूझ-बूझ अनिवार्य है, मेरा मतलब यहां हिंसक, बर्बर, बेसुध तथा आदम जीवन जीने की वृत्ति से बिल्कुल नहीं है। आप नैसर्गिक, पूर्ण, सहज, रचनात्मक तथा प्रज्ञाशील जीवन केवल तभी जी सकते हैं जब आप समाज के झूठे तथा सच्चे दोनों मापदंडों को समझ लेते हैं और आप उनसे पूरी तरह से किनारा कर लेते हैं क्योंकि आपने इन्हें ठीक-ठीक पहचान लिया है। इसीलिए आप अब उस विपरीत के चक्कर में नहीं फंसेंगे जिसे सद्‍गुण कहा जाता है।

मैं इसे संक्षेप में बताता हूं : जब आप डरते हैं तो आप साहस बटोरने की कोशिश करते हैं, और आप उस साहस को सद्‍गुण कहते हैं, जबकि असल में आप डर से दूर भाग रहे होते हैं। आप कुछ देर के लिए डर को साहस नामक विचार से ढक देते हैं। आप कुछ क्षणों के लिए तो डर को साहस की धारणा से ढक सकते हैं लेकिन डर आपके अंदर रहेगा ही और कभी न कभी किसी न किसी रूप में उभरेगा। लेकिन यदि आप डर की जड़ में जाते हैं, उसकी असली वजह टटोलते हैं तो आपका मन दो विपरीतों के द्वंद्व में, उलट के फेरे में नहीं फंसेगा।

३१ मार्च १६३४, न्यूजीलैण्ड

प्रश्न पूछते हैं—वास्तविकता के बारे में, मानव के साथ मानव के संबंध के बारे में, और उस चीज़ के बारे में जिसे आप प्रेम कहते हैं और साथ ही मुत्यु के इस विपुल विशाल प्रश्न के बारे में भी, तब उस सही प्रश्न में से सही उत्तर का प्रादुर्भाव होगा। उस उत्तर से ही सही कर्म होगा। सम्यक् उत्तर में ही सम्यक् कर्म समाहित रहता है। ज़िम्मेदार पूरी तरह से हम ही हैं। इसलिए यह कह कर अपने आप को मत बहलाइये कि 'मैं क्या कर सकता हूं? मैं एक अकेला, अशांति और अज्ञान से भरी निरर्थक ज़िंदगी बिताने वाला मैं भला क्या कर सकता हूं?' अज्ञान का अस्तित्व तभी तक है जब तक आप स्वयं को नहीं जान लेते। अपने आप को जानना ही प्रज्ञा है। भले ही आप दुनिया की तमाम किताबों से अनभिज्ञ और अनजान हों (और शायद वैसा अच्छा भी रहे), तमाम ताज़ा-तरीन मत-सिद्धांतों से अनजान हों मगर यह अज्ञान नहीं है। अपने आप को न जानना सबसे गहन व गंभीर अज्ञान है, लेकिन आप अपने आप को तब तक नहीं जान सकते जब तक आप स्वयं को ध्यान से नहीं देखते, स्वयं को ठीक वैसा नहीं देखते जैसे कि आप सचमुच हैं—कुछ भी हेर-फेर किये बिना, बदलाव की कोई भी चाहना किये बिना। तब जिसे आप देख रहे हैं वह बिल्कुल बदल जाता है, उसका रूपांतरण हो जाता है क्योंकि तब द्रष्टा और दृश्य के बीच का फ़ासला मिट चुका होता है, और इसलिए कोई द्वंद्व या द्वैत शेष नहीं रहता।

(यूरोप में वार्ताएं-पृष्ठ ४७-५६, पेरिस, १६ अप्रैल १६६८)

प्रश्न : *ध्यान और मन के अनुशासन ने मुझे जीवन में बहुत मदद की है, मगर अब आपको सुनकर मैं बहुत भ्रमित हो गया हूं क्योंकि आप तो आत्म-अनुशासन को पूरी तरह से निष्कासित कर रहें हैं। तो क्या ध्यान का भी आपके लिए कोई महत्त्व नहीं है? या फिर हमें देने के लिए आपके पास ध्यान की क्या कोई नई विधि है?*

कृष्णमूर्ति : जैसा कि मैं पहले भी सविस्तार बता चुका हूं कि जहां चयन है, पसंद-नापसंद है, वहां द्वंद्व अवश्य होगा क्योंकि चयन सदैव इच्छा व चाहना पर आधारित रहता है, और जहां इच्छा रहती है, चाह रहती है, वहां समझ और विवेक नहीं रहते। इस प्रकार आपकी पसंद-नापसंद केवल विघ्न-बाधायें बढ़ाती है। जब आप दुख-तक़लीफ़ में होते हैं तब आप सुख-चैन की चाहना करते हैं, आप उस दुख-तक़लीफ़ से पलायन कर जाना चाहते हैं, मगर चूंकि आपकी चाहना विवेक को अपना कार्य नहीं करने देती, इसलिए किसी धारणा को, किसी विश्वास को आप बिना सोचे-समझे यह मानकर स्वीकार कर लेते हैं कि वह आपको द्वंद्व से राहत दिलायेगा। आपको ऐसा लग सकता है कि चयन करने में आप सोच-विचार से काम ले रहे हैं, मगर ऐसा होता नहीं है।

इस प्रकार, आपने कुछ धारणायें बना ली हैं जिन्हें आप उत्कृष्ट, उत्तम और प्रशंसनीय मानते हैं और आप अपने मन को इन धारणाओं के अनुरूप बनने के लिए बाध्य करते हैं; या फिर किसी विशेष चित्र या छवि पर अपना ध्यान केंद्रित कर लेते हैं और इस तरह अपने व्यवहार में अलगाव और टकराव खड़ा कर लेते हैं। ध्यान द्वारा या चयन के ज़रिए आप अपने आचरण पर, अपनी करनी पर नियंत्रण करने की कोशिश करते हैं। जो कुछ मैं कह रहा हूं यह अगर आपकी समझ में न आ रहा हो तो कृपया मुझे टोक दें ताकि हम उस पर चर्चा कर सकें।

जैसा कि मैं कह चुका हूं, जब आप दुख महसूस करते हैं तब तुरंत उसका विलोम, उसका उलट तलाशने लगते हैं, और इस तलाश में आप किसी भी ऐसे सुख, किसी भी ऐसी आरामदेह स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं जो आपको हाल-फ़िलहाल तो सुकून दे ही दे। आप को भले ही लगता हो कि ऐसे सुख-आराम को, ऐसी किसी राहत को स्वीकार कर लेने से पहले आप उसे बुद्धि पर तौल लेते हैं मगर वस्तुतः उसे आप बिना सोचे-समझे, बिना किसी सोच-विचार के ही स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि जहां चाहना रहती है वहां यथार्थ को समझ पाने की क्षमता नहीं रह जाती।

ध्यान अधिकतर लोगों के लिए चयन की धारणा से जुड़ा है। भारत में तो लोग इस धारणा की अति ही कर डालते हैं। वहां तो जो व्यक्ति लंबे समय तक निश्चल बैठा रह सके और किसी एक विचार पर निरंतर टिका रह सके उसे आध्यात्मिक मान लिया जाता है। किंतु, उसने वास्तव में किया क्या है? उसने उस एक विचार के अलावा सारे विचार एक तरफ़ कर दिये हैं जिसे उसने सोद्देश्य चुना है, उसका यह चयन उसे संतोष दे रहा होता है। उसने अपने मन-मस्तिष्क को किसी एक विचार पर, किसी एक चित्र पर केंद्रित कर लेने के लिए प्रशिक्षित कर लिया है—वह अपने मन को नियंत्रित कर उसे सीमित कर देता है और इस तरह द्वंद्व से छुटकारा पाने की आशा संजोता है।

ध्यान की यह धारणा—हालांकि मैंने यहां उसका सविस्तार वर्णन नहीं किया है—मुझे सरासर बेमानी लगती है। वास्तव में यह ध्यान है ही नहीं, यह तो द्वंद्व से चालाकी भरा पलायन है, यह बुद्धि का एक ऐसा करतब है जिसका वास्तविक जीवन से कोई लेना-देना ही नहीं है। आपने अपने मन को कुछ ऐसे सिद्धांतों के अनुरूप चलने के लिए प्रशिक्षित कर लिया है जिन पर चलकर आप जीवन से रू-ब-रू होने की आशा करते हैं। मगर जब तक आप किसी सांचे में क़ैद हैं तब तक आप जीवन

से मुलाक़ात कभी कर ही नहीं सकते। जीवन आपके बराबर से होता हुआ आगे निकल जायेगा क्योंकि अपने चयन के ज़रिए, अपनी पसंद-नापसंद के ज़रिए आप अपने मन को किसी चारदीवारी में क़ैद किये बैठे हैं।

आपको ऐसा क्यों लगता है कि आपको ध्यान लगाना चाहिये? ध्यान लगाने से आपका तात्पर्य क्या ध्यान केंद्रित करने से है? आप में यदि सचमुच रुचि है तो आपको ध्यान केंद्रित करने के लिए जद्दोजहद नहीं करनी पड़ेगी, अपने आप से ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी पड़ेगी। जब आप में रुचि नहीं होती केवल तभी अपने आपको हांकने की, अपने आप से ज़ोर-ज़बरदस्ती करने की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन अपने आप से ज़ोर-ज़बरदस्ती करके हम अपनी बुद्धि का सत्यानाश कर बैठते हैं, तब न तो आपका मन ही मुक्त रह पाता है और न ही आपकी भावना। दोनों ही अपंग हो जाते हैं। मेरा कहना है कि जो ध्यान बिना प्रयास के होता है आनंद उसी में है, शांति उसी में है, लेकिन ऐसा ध्यान तभी संभव है जब आपका मन अपने कृत्यों में, अपने व्यवहार में कोई विभाजन, कोई अलगाव न खड़े कर रहा हो।

हमने अपने दिलोदिमाग को किसी परंपरा के, जीने के किसी ख़ास ढर्रे के अनुसार चलने के लिए प्रशिक्षित कर लिया है, लेकिन ऐसे प्रशिक्षण से गुज़र कर हम कोई समझ-बूझ नहीं हासिल कर पाये हैं, बल्कि हमने केवल विपरीत की कल्पना रच डाली है। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि हमारे व्यवहार में प्रचंडता आ जाये, विशृंखलता आ जाये। मेरे कहने का अर्थ है कि मन जब किसी अलगाव में अटक जाता है तो उस अलगाव के अस्तित्व की निरंतरता बनी रहती है—तब भी जब आप किसी सिद्धांत पर चलते हुए उस अलगाव को दबाने का भरसक प्रयास करते रहें और कोई आदर्श स्थापित करके उस पर हावी होने का या उसे जीत लेने का प्रयास करते रहें। जिसे आप आध्यात्मिक

जीवन कहते हैं वह तो कोल्हू के बैल की तरह खपते रहना है, वह तो एक अविराम संघर्ष है जिसके द्वारा मन किसी एक विचार से, किसी एक धारणा से या किसी एक छवि से लगातार चिपके रहने की कोशिश में रहता है, इसीलिए तो वह एक ऐसा जीवन बन जाता है जिसमें कभी पूर्णता नहीं आ पाती, वह सदा आधा-अधूरा ही रहता है।

इस वार्ता को सुनने के बाद आप कह सकते हैं : ''मुझे बताया गया है कि मुझे भरपूर जीना चाहिये, किसी आदर्श से बंधे नहीं रहना चाहिये—इसलिए अब मैं वही करूंगा जो मुझे अच्छा लगेगा।'' मगर यह वह सोच नहीं है जो मैं आपको इस अंतिम वार्ता में देना चाहता हूं। मैं उस कृत्य की, उस व्यवहार की बात नहीं कर रहा हूं जो कि आवेशपूर्ण हो, आवेगपूर्ण हो और विचारशून्य हो—मैं तो एक ऐसी क्रिया की बात कर रहा हूं जो समग्र है, पूर्ण है, आनंदमय है। मेरा कहना है कि अपने मन पर ज़ोर-ज़बरदस्ती करके, सख़्ती से उसे कोई रूप-आकार देकर, और किसी विचार, धारणा, सिद्धांत या किसी लक्ष्य के अनुरूप स्वयं ढलकर आप अपने व्यवहार में पूर्णता नहीं ला सकते।

क्या आपने कभी उस व्यक्ति के बारे में सोचा है जो ध्यान लगाता है? वह ऐसा व्यक्ति होता है जो चयन करता है। वह उस चीज़ का चयन कर लेता है जो उसे अच्छी लग रही हो, जो उसे ऐसा कुछ दे सके जिसे वह मदद कहता है। दरअसल वह कोई ऐसी चीज़ चाह रहा होता है जो उसे सुख-चैन दे, तसल्ली दे—एक तरह की निर्जीव शांति, गतिहीनता। लेकिन जो व्यक्ति इस ध्यान को लगाने में सक्षम हो जाता है उसे हम एक महान व्यक्ति, एक आध्यात्मिक व्यक्ति मानने लगते हैं।

हमारे तमाम प्रयासों का सरोकार उन विचारों को जिन्हें हम ग़लत समझते हैं तथाकथित सही विचारों और धारणाओं की मदद लेकर धर-दबोचने से रहता है, और इन प्रयासों के चलते

हम अपने व्यवहार में लगातार भेदभाव पैदा करते रहते हैं। हम अपने मन को विभाजन से मुक्त नहीं करते; हम समझते ही नहीं कि चाहना से, खालीपन से और लालसा से उत्पन्न होने वाली यह अनवरत चयन करते रहने की, पसंद-नापसंद करते रहने की लत ही इस विभाजन का कारण है। जब हम खालीपन महसूस करते हैं तब उस खालीपन को, उस रिक्तता को भरना चाहते हैं, जब हम अपूर्णता महसूस करते हैं तब उस अपूर्णता से पलायन करना चाहते हैं, और यह सब दुख-तक़लीफ़ का कारण बन जाता है। इसीलिए हम किसी बौद्धिक संतुष्टि का आविष्कार कर लेते हैं और उसे ध्यान का नाम दे देते हैं।

अब आप कहेंगे कि मैंने आपको कुछ करने जैसा कोई निश्चयात्मक या विध्यात्मक अनुदेश तो दिया ही नहीं। उस व्यक्ति से सावधान हो जाइये जो आपको कोई विध्यात्मक तरीका बताने बैठ जाये क्योंकि वह आपको अपने ही किसी सांचे-ढांचे में ढाल रहा होगा। अगर आप वास्तव में जी रहे हैं, अगर आप अपने दिलोदिमाग को तमाम सीमाओं, तमाम बंधनों से मुक्त रखने का जतन करते हैं—आत्म-विश्लेषण या अंतर्निरीक्षण द्वारा नहीं बल्कि कर्म करते हुए सजग रहकर—तब वे अड़चनें ध्वस्त हो जायेंगी जो आपके लिए जीवन की पूर्णता पाने में आड़े आ रही हैं। यह सजगता ही ध्यान का आह्लाद है—उस ध्यान का जो कि मात्र एक घंटे की जद्दोजहद नहीं है बल्कि स्वयं कर्म है, स्वयं जीवन है।

आप मुझसे पूछा करते हैं : ''क्या हमें देने के लिए आपके पास कोई नई विधि है?'' देखिये, ध्यान आप कोई परिणाम पाने के लिए करते हैं, कुछ हासिल करने के इरादे से करते हैं, वैसे ही जैसे किसी आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंचने के लिए आप जी-जान से जुटे रहते हैं, परंतु मैं यह निश्चित रूप से बता दूं कि वह ऊंचाई आपको प्राप्त होती भले ही प्रतीत होती हो मगर फिर भी खालीपन का एहसास आपमें रहेगा ही। आपके ध्यान

का अपने आप में कोई मूल्य नहीं है, जैसे कि आपके कर्म का अपने आप में कोई मूल्य नहीं है क्योंकि आपकी नज़र तो लगातार कोई परम पद या कोई प्रतिफल पाने पर लगी रहती है। हमारे मन व हृदय जब कुछ भी उपलब्ध करने के विचार से मुक्त हो जाते हैं, प्रयत्न, चयन व अर्जन से उत्पन्न होने वाले इस विचार से जब आप मुक्त हो जाते हैं, केवल तब ही उस शाश्वत जीवन का आविर्भाव होता है जो एक अंतिमता नहीं बल्कि नित शोभायमान और नित नूतन है।

इटली, चौथी सार्वजनिक वार्ता,
९ जुलाई १९३३

प्रश्न : *जिस सजगता की बात आप कर रहे हैं वह अवस्था क्या है?*

कृष्णमूर्ति : जो मन किसी विश्वास से बंधा हो वह पूरी तरह नहीं सोच सकता। वह उस पशु के समान होता है जो एक रस्सी से किसी खूंटे के साथ बंधा हो। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि रस्सी लंबी है या छोटी। वह केवल उस रस्सी की लंबाई तक ही जा सकता है, वह पूरी तरह, निर्बाध, असीम और स्वतंत्र रूप से नहीं घूम सकता। निश्चय ही, ऐसा विचरना सोच-विचार की निशानी नहीं है, यह तो किसी विश्वास की सीमित परिधि के भीतर चहलकदमी करना हुआ। देखिये, मनुष्यों के मन किसी न किसी मत-विश्वास से बंधे हुए हैं, इसीलिए तो वे सोचने में असमर्थ हैं। अधिकांश मन स्वयं का किसी न किसी विश्वास के साथ तादात्म्य किये हुए हैं, और इसीलिए उनका विचार सदैव उस विश्वास की, उस धारणा की चारदीवारी में क़ैद रहता है, फलतः विचार में कभी पूर्णता नहीं आ पाती। मत-विश्वास लोगों में फूट डालते हैं। तो जब आप यह देख लेते हैं, अपने पूरे अस्तित्व द्वारा यह सचमुच पहचान लेते हैं कि मत-विश्वास विचार को प्रभावित करता है, तब क्या होता है? तब आप इस बात से अवगत हो जाते हैं कि

आपका विचार प्रभावग्रस्त है, आप चेत जाते हैं कि आपका विचार किसी मत-विश्वास के खूंटे से बंधा हुआ है, उसी में अटका हुआ है। सजगता की लौ के प्रकाश में आप इस नासमझी को पहचान जायेंगे और इस तरह अपने मन को संस्कारबद्धता के चंगुल से मुक्त कराने की पहल करेंगे और फिर पूर्णता से, समग्र रूप से विचार करने की शुरुआत कर पाएंगे।

इसके साथ कृपया परीक्षण-प्रयोग कीजिए, ***तब आप देखेंगे कि जीवन कोई अविराम युद्ध का एक सिलसिला नहीं है, आपकी इच्छा-आकांक्षा के विरोध में खड़े मानदंडों-आदर्शों के साथ लड़ाई नहीं है जीवन। तब आप पाएंगे कि न तो आपकी इच्छा बचती है और न ही कोई मानदंड, बस रह जाता है केवल सम्यक कर्म—बिना किसी निजी लगाव-जुड़ाव के।***

एक अन्य उदाहरण लीजिए। आप इस बात से डरते हैं कि पड़ोसी क्या कहेगा—एक साधारण सा भय। लेकिन इसका विपरीत भाव पैदा कर लेना भी बेकार की ही बात है जिसमें आप कह देते हैं: ''कोई क्या कहता है, मुझे इसकी क़तई परवाह नहीं है,'' और इस विरोध के वशीभूत आप कुछ भी करने लगते हैं। लेकिन अगर आप वास्तव में इस बात से अवगत हो जाएं कि आप अड़ोसी-पड़ोसी से भयभीत क्यों हैं तो वह भय पूरी तरह समाप्त हो जाता है। इस 'क्यों' से, इसके कारण से पर्दा हटाने के लिए आपको भय वाले पलों में सजग रहना होगा, तब आप देख पायेंगे कि वह भय आख़िर है क्या? आपको रोज़गार छूटने का भय है, आपको इस बात का भय हो सकता है कि आप अपने बेटे या बेटी की शादी कर पायेंगे या नहीं, या आप समाज में समुचित स्थान बना पायेंगे या नहीं, और ऐसे अनेक भय। तो इस तरह मन को सजग व सचेत रख कर आप अपने भय को जानने की शुरुआत करें, इसी सजगता की अग्निशिखा में मिथ्या आदर्शों का आड़-कबाड़ जलकर राख हो जाता है। फिर जीवन

कोई युद्ध नहीं रह जाता, और न ही कुछ ऐसा जिस पर जीत हासिल करनी पड़े।

हो सकता है कि इस सब को आप स्वीकार न करें। जो मैं कह रहा हूं उसे आप स्वीकार भले ही न करें लेकिन उसके साथ प्रयोग-परीक्षण तो कर ही सकते हैं। जिन तीन चीज़ों के उदाहरण मैंने आपको दिये हैं—भय, मत-विश्वास और देशभक्ति—इनके साथ प्रयोग-परीक्षण कीजिये, तब आप देख पायेंगे कि आपका मन किस तरह किसी खूंटे से बंधा हुआ है, पूर्वप्रभावों से ग्रस्त है, और जीवन एक द्वंद्व बनकर रह गया है। मन जब भी बंधनबद्ध होगा, पूर्वप्रभावों से ग्रस्त होगा, वहां द्वंद्व रहेगा ही, वहां दुख-तकलीफ़ रहेगी ही, क्योंकि विचार किसी नदी के जल के समान होता है। निरंतर प्रवाह इसकी अनिवार्यता है। अनंतता ही वह प्रवाह है। आप यदि विचार के, अपने मन-मस्तिष्क के इस प्रवाह को प्रतिबद्ध कर देंगे तो द्वंद्व होगा ही और फिर आप द्वंद्व का समाधान चाहेंगें, और तब वही सिलसिला शुरु होगा : निदान-समाधान और विकल्पों की तलाश में जुट जाना, मगर उस द्वंद्व के कारण को ढूंढने की कोशिश कभी न करना। तो, पूरी सजगता को सदा-सर्वदा बनाये रख कर आप अपने मन-मस्तिष्क को उन विघ्न-बाधाओं से मुक्त कीजिये जो परिवेश ने उनके चारों ओर इकट्ठा कर दी हैं। ***परिवेश जब तक मन को प्रभावित करता रहेगा और मन जब तक परिवेश के वास्तविक मंतव्य को स्पष्टतः नहीं जान लेगा, तब तक द्वंद्व रहेगा ही और इसीलिए ग़लत समाधान भी निकलते ही रहेंगे, जैसे कि आत्म-अनुशासन।***

न्यूज़ीलैंड, तीसरी वसंत स्कूल गार्डन वार्ता,
२ अप्रैल १९३४

प्रश्न : *मैं उन्मुक्त भाव से और खुद पर बिना कोई दबाव बनाए किस तरह व्यवहार कर सकता हूं जबकि मुझे पता है कि मेरा व्यवहार उन्हें अवश्य ही ठेस पहुंचायेगा जिन्हें मैं प्रेम करता हूं? ऐसी स्थिति में मेरे सही आचरण की कसौटी क्या होगी?*

कृष्णमूर्ति : सही व्यवहार की कसौटी उसकी सहजता में होती है, परंतु सहजतापूर्वक व्यवहार करने के लिए बहुत सूझ-बूझ चाहिए, प्रज्ञा चाहिए। लोग प्रायः प्रतिक्रियाओं में जीते हैं जो विकृत, दूषित व दमित होती हैं। प्रज्ञा जब काम कर रही होती है तब व्यवहार स्वतःस्फूर्त होता है, सहज होता है।

तो प्रश्नकर्ता जानना चाहता है कि जब उसे यह पता हो कि जिन्हें वह प्रेम करता है उसके व्यवहार से उन्हें ठेस पहुंच सकती है तब वह किसी औपचारिकता के बिना और खुद पर कोई दबाव डाले बिना किस तरह व्यवहार करे। देखिये, प्रेम करने का अर्थ है मुक्त होना, बंधन का न होना—दोनों पक्षों के लिए। प्रेम में यदि पीड़ा की, दुख-तकलीफ़ की आशंका है तो समझिये कि वहां प्रेम नहीं है बल्कि सूक्ष्म रूप में मालिकाना हक़ का और कुछ हासिल करने का भाव है। आप अगर किसी से प्रेम करते हैं—सचमुच प्रेम करते हैं—तो जब आप कुछ भी ऐसा करते हैं जो आपको लगता है कि सही है तो उस कर्म से दुख पहुंचने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। दुख-तकलीफ़ तो तब होती है जब दूसरा आपसे अपनी इच्छानुसार कुछ कराना चाह रहा हो या आप दूसरे से अपनी इच्छानुसार कुछ कराना चाह रहे हों। इसका यह अर्थ हुआ कि आप किसी के आधिपत्य में रहना चाहते हैं; उसमें आपको सुरक्षित, आराम और सुख-चैन से रहने का एहसास होता है, हालांकि आप जानते हैं कि वह सुख-चैन अस्थायी है, क्षण-भंगुर है, मगर फिर भी आप उस सुख-चैन का, उस अस्थायित्व का आश्रय ले ही लेते हैं। सुख-चैन के लिए, सहारे के लिए की गयी कोई भी जद्दोजहद वास्तव में आंतरिक समृद्धि के अभाव को,

भीतर के खोखलेपन को ही दर्शाती है, तभी तो दूसरे व्यक्ति से अलगाव और दूरी पैदा करने वाला व्यवहार स्वाभाविक रूप से विक्षोभ, पीड़ा और दुख ही पैदा करता है; और उनमें से एक व्यक्ति को दूसरे के साथ समन्वय बनाए रखने की खातिर वह सब दबाना पड़ता है जो वह वाकई महसूस कर रहा होता है। दूसरे शब्दों में, इस तथाकथित प्रेम द्वारा किया गया दिन प्रतिदिन का यह दमन दोनों व्यक्तियों को बरबाद कर देता है। ऐसे प्रेम में कोई स्वतंत्रता नहीं रहती, कोई मुक्त भाव नहीं रहता, यह तो बस एक दिखायी न देने वाला बंधन बन कर रह जाता है। जब आप बहुत शिद्दत से महसूस करते हैं कि कुछ ऐसा है जो आपको करना ही चाहिए, तो आप करते ही हैं, कभी-कभार चालाकी से और घुमा-फिरा कर, लेकिन आप उसे कर लेते हैं। स्वतंत्र रूप से, बिना किसी दवाब के कुछ करने की, कर्म की यह आकांक्षा हमेशा मौजूद रहती है।

ओहाय, चौथी सार्वजनिक वार्ता,
१६ जून १६३४

खंड दो

पुपुल जयकर द्वारा रचित कृष्णमूर्ति की जीवनी के कुछ अंश

१९४७ से पहले कृष्णमूर्ति अंतिम बार भारत १९३८ में आए थे; तब अच्युत उनसे ऋषि वैली में मिले थे। स्पेन के गृह युद्ध में माद्रिद पराजित हो गयी थी, और यह जान कर अच्युत बेहद दुःखी थे। अच्युत से बात करते हुए कृष्णमूर्ति ने कहा कि इस हार में उन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने का आभास हो रहा है। उन्होंने टिप्पणी की कि फ़ासिज़्म और कम्यूनिज़्म में उन्हें कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। अच्युत ने इसका ज़बरदस्त विरोध किया। कृष्णमूर्ति ने अपनी बात दोहराते हुए कहा, ''दोनों ही तानाशाही के रूप हैं''। यह एक महत्त्वपूर्ण सत्य था जिसका एहसास अच्युत को कई वर्षों बाद हुआ। १९४२ के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान राव साहिब को जेल हुई और अच्युत पलायन कर इधर-उधर भटकने पर बाध्य हो गए, स्वयं को गुप्त रखते हुए भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक शरण ढूंढते फिरे। आगे चलकर वह और जय प्रकाश नारायण उन अंधकारमय, भयानक किंतु जोश और दीवानगी-भरे दिनों के क्रांतिकारी नायक बने। जय प्रकाश से एक भिन्नता रही, अच्युत कभी गिरफ़्तार नहीं हुए; वह हर बार पुलिस को चकमा देकर निकल जाते—कभी किसी हस्पताल में शरण लेकर, कभी एक दीन-दरिद्र कर्मचारी क्लर्क का वेष धारण कर, कभी दाढ़ी बढ़ाकर और फ़ेज़ टोपी पहनकर। १९४७ में वह कृष्णमूर्ति के पास आए, अधीर और हताश। स्वतंत्रता के पश्चात् कांग्रेस नेताओं में सत्ता प्राप्त करने की जो क्षुद्र इच्छाएं दबी हुईं थीं वे अब धीरे-धीरे उजागर हो रही थीं। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान महाराष्ट्र में ब्राह्मणों के विरुध पनप रही भावनाओं का उतना ज़ोर नहीं था। महाराष्ट्र के अधिकांश नेता, रचनात्मक कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी ब्राह्मण ही थे। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कुर्सी पाने की होड़ ने कांग्रेस के अंदर ही अंदर अलग-अलग गुटों की स्थापना की स्थिति पैदा कर दी थी।

इन साजिशों-षड्यंत्रों से बेहद अशांत और अपनी निजी, भावनात्मक ज़िंदगी में गहरी चोट खाए अच्युत अपने पहले के जीवन में लौट आए और उन्होंने कृष्णमूर्ति से सलाह मांगी। अच्युत ने अपने आंतरिक द्वंद्वों को व्यक्त किया, और कृष्णमूर्ति अच्युत को भ्रमण करने साथ ले गए। एक वृक्ष की ओर इशारा करते हुए वह अच्युत की तरफ़ मुड़े और बोले, ''उस वृक्ष को देखिए—वह पत्ता जो कभी नाजुक था, हरा-भरा था, अब

पीला पड़ गया है। इसमें पत्ते का कोई दोष नहीं है, उसका इसमें कोई हाथ नहीं है। वह पैदा होता है, सूखता है और गिर जाता है। राजनीति में रहने या न रहने का निर्णय, कोई भी निर्णय जो आप अपनी इच्छा से ले रहे हैं ग़लत है। हर चीज़ अपने समय पर, अपने नियमानुसार होती है। तो चिंता करना छोड़िए।'' १९४७ के अंत के निकट अच्युत गांधीजी से अंतिम बार मिलने गए। उन्होंने गांधीजी को बताया कि वह कुछ महीनों के लिए राजनीति छोड़ रहे हैं। गांधीजी ने पूछा कि वह क्या करने वाले हैं। जब उन्हें यह पता चला कि अच्युत कृष्णमूर्ति के साथ समय बिताने वाले हैं तो वह बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अच्युत से भारत के बंटवारे के चलते हो रही भयावह घटनाओं के विषय में बात की। उन्होंने कहा कि वह एक असीम अंधकारमय समय से गुज़र रहे हैं। उन्हें रोशनी की कोई किरण दिखाई नहीं दे रही।

वार्षिक गैदरिंग २०१० की सूचना

इस बार के.एफ.आई. की वार्षिक गैदरिंग २३ से २६ नवंबर के दौरान ऋषि वैली में आयोजित की जाएगी। इस बारे में और अधिक जानकारी के लिए निम्न पते पर संपर्क करें :

The Office (The KFI Gathering Committee)
Rishi Valley Education Centre
Chittoor District
Andhra Pradesh - 517352
Tel : 08571-280582/280062
Email : office@rishivalley.org

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् १९६८ के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहाय, कैलीफोर्निया का है। सन् १९६८ के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

कृष्णमूर्ति गैदरिंग (हिंदी) २०१०
के.एफ.आई. राजघाट, वाराणसी

६ से ११ नवंबर २०१०

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर द्वारा वाराणसी में ६ से ११ नवंबर २०१० तक एक हिंदी गैदरिंग का आयोजन किया जा रहा है।

इस गैदरिंग का आशय है जे. कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में जीवन के गहन व आधारभूत प्रश्नों को रखना और अपने दैनिक जीवन तथा पारस्परिक संबंधों में उनकी प्रासंगिकता को देखना। यह एक ऐसा अवसर होगा जब हम प्रकृति प्रदत्त प्रशांत परिवेश में परिसंवाद, परिचर्चा और मौन में से उभरती प्रज्ञा को खोजने के लिए मिलजुल कर बैठेंगे।

इस वर्ष राजघाट में हुए संवादों-परिसंवादों में अक्सर सही कर्म एवं समुचित व्यवहार क्या है यह एक अहम मुद्दा रहा है। यह मुद्दा आपके, हमारे, सबके जीवन में कदम-कदम पर सवाल बनकर सामने आता है, परंतु हम इससे आधे-अधूरे ढंग से ही निपट पाते हैं क्योंकि संस्कारबद्ध विचार के अलावा हमें कोई और माध्यम सूझता ही नहीं। कोई विचार, कोई धारणा, कोई मानदंड यदि सम्यक कर्म का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकते तो फिर वह कौन सी ऊर्जा है, कौन सी रोशनी है, जो सही कर्म के लिए प्रेरित कर सकती है? सूझ-बूझ, सोच-समझ अक्सर धुंधली क्यों पड़ जाती है? *आखिर सही कर्म की कसौटी क्या है?*

राजघाट में आयोजित हो रही इस पहली हिंदी गैदरिंग का विषय यही है:

सही कर्म की कसौटी

इसमें सहभागियों का आगमन ८ नवंबर को और प्रस्थान ११ नवंबर को संध्या ५ बजे से (अधिकतम, १२ नवंबर को प्रातः १० बजे तक) रहेगा। इस गैदरिंग का कुल शुल्क आवास के प्रकार के अनुसार रु. १२०० से २००० प्रति व्यक्ति होगा।

इस संबंध में विस्तृत सूचना www.jkrishnamurtionline.org पर उपलब्ध रहेगी, अथवा आप ईमेल द्वारा kcentrevns@gmail.com पर या पत्र द्वारा इस पते पर संपर्क कर सकते हैं :

प्रोग्राम संयोजक, कृष्णमूर्ति सेंटर, के.एफ़.आई.,
राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी-221001 उ.प्र.

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

कृष्णमूर्ति की परिचयात्मक पुस्तकें :

१. ज्ञात से मुक्ति	रु. ३०.००
२. ध्यान	रु. ४०.००
३. हिंसा से परे	रु. ८०.००
४. गरुड़ की उड़ान	रु. ७०.००
५. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (सजिल्द द्विभाषी संस्करण)	रु. ५००.००
६. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (पेपरबैक)	रु. १७५.००
७. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता	रु. १००.००
८. अन्तिम वार्ताएँ	रु. ७०.००
९. आपको अपने जीवन में क्या करना है	रु. १७५.००

शिक्षा संबंधी पुस्तकें :

१. शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य	रु. ६०.००
२. शिक्षा संवाद	रु. ८०.००
३. स्कूलों के नाम पत्र	रु. ६०.००
४. स्कूलों को पत्र भाग-२	रु. ४०.००
५. शिक्षा क्या है?	रु. १७५.००
६. संस्कृति का प्रश्न	रु. ५०.००

कृष्णमूर्ति का स्वयं का लेखन :

१. जीवन भाष्य-I	रु. ७०.००
२. जीवन भाष्य-II	रु. १२०.००
३. जीवन भाष्य-III	रु. १४०.००

थीम बुक्स :

१. जीवन और मृत्यु	रु. १२५.००
२. ईश्वर क्या है?	रु. १२५.००
३. ध्यान	रु. १२५.००
४. सोच क्या है?	रु. १२५.००

पुस्तिकाएँ :

५. मृत्यु और उसके बाद	रु. ४०.००
६. वाशिंगटन वार्ताएँ	रु. २५.००
७. सुखी वही जो कुछ नहीं है	रु. २०.००
८. सीखने की कला	रु. १५.००
९. आन्तरिक प्रस्फुटन	रु. १०.००
१०. जीवन की पुस्तक	रु. १०.००
११. प्रेम : स्वयं से एक संलाप	रु. १०.००
१२. सत्य एक पथहीन भूमि है	रु. १०.००
१३. स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन	रु. १०.००
१४. ध्यान में मन	रु. १०.००
१५. परम्परा जिसने अपनी आत्मा खो दी है	रु. ५.००

हिन्दी डी.वी.डी.

‘‘बुनियादी बदलाव : एक चुनौती’’	रु. २००.००

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर
कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-२२१००१
ईमेलः kcentrevns@gmail.com फोनः ०५४२-२४४१२८९, २४४०४५३

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिटिंग प्रेस, एस-१/२०८ के-१, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी २२१ ००२ से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी २२१ ००१ (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : विजय छाबड़ा